ISSN : 2278-4632

JUNI KHYAT
जूनी ख्यात

इतिहास, कला एवं संस्कृति की शोध पत्रिका

संपादक
डॉ. बी. एल. भादानी
प्रोफेसर

मरु भूमि शोध संस्थान, श्री डूँगरगढ़ (राज.)
MARUBHUMI SHODH SANSTHAN, SRI DUNGARGARGH (RAJ.)

अनुक्रम

- राजस्थान के सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास लेखन के स्रोत 7-17
  - *डॉ. डी.बी. क्षीरसागर*

- ताम्रपत्रों में निहित पूर्व-मध्यकालीन प्रशासकीय व्यवस्था के विकास का अध्ययन 18-26
  - *प्रो. एस.पी. व्यास* • *डॉ. अनिल पुरोहित*

- हांसी में मोहम्मद खां कायमखानी का मकबरा 27-33
  - *डॉ. चन्द्रपाल सिंह*

- 1661 ई. में मारवाड़ की जनसंख्या 34-49
  - *बी.एल. भादानी*

- बीकानेर के सांस्कृतिक इतिहास-स्रोत : मंदिरात बहियात शृंखला–एक अध्ययन 50-55
  - *डॉ. कनिका भनोत*

- पश्चिमी राजपूताना का प्रमुख व्यापारिक केन्द्र : जैसलमेर 18वीं शताब्दी के कालखण्ड के दौरान 56-70
  - *डॉ. राजेन्द्र कुमार*

- आपात काल में दुर्ग का सुरक्षा प्रबन्ध 71-77
  - डॉ. विक्रमसिंह अमरावत

- सरीला राज्य के पूर्व राजकुमार की आत्मकथा : इतिहास की धरोहर 78-85
  - डॉ. सफ़िया खान

- छत्तीसगढ़ में मराठा शासन और जमींदारियां 86-107
  - *डॉ. उमेश यादव*

ताम्रपत्रों में निहित पूर्व-मध्यकालीन प्रशासकीय व्यवस्था के विकास का अध्ययन

प्रो. एस.पी. व्यास • डॉ. अनिल पुरोहित

भारतीय इतिहास को जानने के पुरातात्त्विक साधनों में अल्प शोधित विषय ताम्रपत्रों का है। ताम्रपत्र-जो सामान्यतः दान शासन होते जो किसी भी युग विशेष के राजा अथवा सामान्य व्यक्ति द्वारा दिये गये दान (भूमिअनुदान) की सूचना देते हैं। जिन्हें भूमिअनुदानपत्र भी कहे जा सकते हैं। ये न केवल भूमिदान देने वाले एवं प्राप्त करने वाले के संबंध में ही सूचना देते हैं वरन् एक काल विशेष की शासन व्यवस्था, सामाजिक, आर्थिक सांस्कृतिक गतिविधियों, विज्ञान एवं तकनीकी आदि की जानकारी भी प्रस्तुत करते हैं। ये अनुदान-पत्र एक तरह के वैधानिक पत्र (legal document) होते थे जो अनुदान प्राप्तकर्ता के भूमि अधिकारों की सूचना देते थे। ताम्रपत्रों में भूमि अधिकार अस्थाई था अथवा स्थाई (भावद् चन्द्र दिवाकर) भूमि अधिकार था अथवा राजस्व अधिकार इसकी पर्याप्त जानकारी प्राप्त की जा सकती है। प्रत्येक ताम्रपत्र के सामान्य सूचनाओं के अतिरिक्त कभी-कभी अनुदानकर्ता की वंश की जानकारी भी मिलती है।

प्रस्तुत पत्र में प्रशासकीय व्यवस्था के विकास एवं परिवर्तन के अध्ययन का प्रयास किया गया है, जिसका आधार ताम्रपत्र मे प्राप्त होने वाली सूचनाएं हैं।

आठवीं से बारहवीं शती तक के युग के राजस्थान की शासन व्यवस्था पर दानपत्रों में यत्र-तत्र प्रदत्त छित-पुट तथ्यों से काफी प्रकाश पड़ता है। तदनुरूप राजस्थान की शासन व्यवस्था की रूपरेखा तैयार की जा सकती है। परन्तु इस सम्बन्ध में दो बातें स्मरणीय है। प्रथम हमारे एतद्विषयक साधन सीमित हैं और अनेक राजाओं से सम्बन्धित होने के कारण विभिन्न रूप में और बिखरे हुए मिलते हैं। द्वितीय पांच शताब्दियों के दीर्घकाल में शासन व्यवस्था की एकरूपता सम्भव नहीं थी। समय के परिवर्तन के साथ शासन व्यवस्था के स्वरूप में भी न्यूनाधिक अन्तर आना स्वाभाविक था।

पूर्वमध्यकालीन राजस्थान की शासन व्यवस्था का अध्ययन दो खण्डों में विभाजित करके किया जा सकता है। प्रथम साम्राज्यिक प्रतिहारकालीन शासन व्यवस्था, जो लगभग 1000 ई. तक प्रचलित रही। इस काल में राजस्थान उत्तर भारतीय शासन व्यवस्था का ही अंग रहा। द्वितीय, प्रतिहारोत्तरकालीन व्यवस्था जो लगभग 1000 से 1230 ई. तक प्रचलित रही। इस काल में यद्यपि स्थूलतः प्रतिहारकालीन शासन पद्धति का प्रचलन रहा तथापि स्थानीय परिस्थितियों के प्रभाव से कहीं-कहीं और यदा-कदा शासन स्वरूप में कतिपय महत्त्वपूर्ण परिवर्तन भी हुए।

राजा : भारतीय अर्थशास्त्रीय परम्परा में राज्य के सप्तांगों का विवरण उपलब्ध है—स्वामी (शासक), अमात्य, जनपद या राष्ट्र, दुर्ग, कोष, दण्ड (सेना) एवं मित्र।[1] इसमें शासक को ही सर्वोच्च माना गया है। कौटिल्य ने राजा को ही संक्षिप्त राज्य कहा है।[2] आलोच्यकाल में भी राज्य का सर्वेसर्वा राजा ही होता था। प्रतिहार नरेशों ने स्वयं अपने को राजा, भूप, नृप व महाराज कहा है परन्तु उनके सामन्तों में उन्हें परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर आदि उपाधियों से सम्बोधित किया है। चौलुक्य नरेश द्वितीय भीमदेव के सामन्त गुहिवंशीय सामन्त अमृतपालदेव के वीरपुर से प्राप्त वि.सं. 1242 के दानपत्र में स्वयं भीमदेव की उपाधि परमेश्वर परमभट्आरक निर्देशित है। जबकि अमृपाल को महाराजाधिराज कहा गया है।[3] परमार शासकों ने भी प्रारम्भ में महाराज, नृप और भूप जैसे सामान्य विरुद्ध धारण किये थे।[4] हंसोट (जिला बड़ौड़ा, गुजरात) से मिले मृतवठड के दानपत्र में नागावलोक अथवा नागभट्ट के उसका परमेश्वर (स्वामी) होने की सूचना मिलती है। इसी प्रकार की सूचना पुनः हमें उसके सामन्त अवनिवर्मन द्वितीय के ऊना से मिले दानपत्रों से भी मिलती है। (वही, 9, पृ. 6) इस प्रकार के विरुद्धों से उस युग के शासकों की राजनीतिक स्थिति और सामन्तवादी व्यवस्था में उनकी सीमित शक्ति का आभास होता है।[5]

राजा के आदर्श गुणों की अनेक प्राचीन राजनीतिक ग्रंथों में विस्तृत चर्चा हुई है। याज्ञवल्क्यस्मृति[6], मनुस्मृति[7], इत्यादि के अनुसार राजा को शक्तिमान, दयालु, तपस्वी, ज्ञानी, अनुशासित, सत्यवादी, वचन एवं कर्म में मृदु, वर्णाश्रम धर्म के नियमों का पालक, शास्त्रों का ज्ञाता, प्रजा के प्रति पितृवत व्यवहार करने वाला होना चाहिए। शासकों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह प्रजा का रक्षण और पालन करेगा, जनोपयोगी कार्यों में रुचि लेगा, सार्वजनिक उत्सवों में भाग

लेगा तथा सार्वजनिक जीवन को सुखद बनाने के हेतु हर प्रकार के साधन अपनायेगा। वि.सं. 1218 के कीर्तिपाल के नाडोल से प्राप्त एक ताम्रपत्र में आल्हण के गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह पवित्रता, आचार-विचार और दान का निकेतन था। इसी में उसके पुत्रों की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि वे श्रेष्ठ बुद्धि वाले, रूप और सुन्दरता से युक्त, शस्त्र और शास्त्र में निपुण, दानी और सुशील थे।[8]

महामात्य : राज्य में महामंत्री अथवा महामात्य का पद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था। राजा स्वयं उसका आदर करता था। 'कुवलयमाला' के अनुसार महामंत्री का पद वंशानुगत होता था।[9] जैन ग्रंथों एवं अभिलेखों से ज्ञात होता है कि राज्य शासन का सम्पूर्ण कार्य महामंत्री के अधीन रहता था।[10] वह राजकीय मुद्रा का प्रयोग करता था। उसका सभी विभागों, विशेषकर राजस्व विभाग पर नियंत्रण रहता था।[11] जालोर के इतिहास में यशोवीर और जेता देवड़ा महामंत्रियों के रूप में प्रसिद्ध है।[12] प्रतापसिंह के वि.सं. 1213 के नाडोल ताम्रपत्र में श्री कुमारपालदेव के महामात्य बाहड़देव का उल्लेख है।[13]

महासान्धिविग्रहिक : सान्धिविग्रहिक शांति और युद्ध का मंत्री होता था। कल्याणपुर के गुहिल शासकों द्वारा दिये गये दानपत्रों में सान्धिविग्रहिक का उल्लेख मिलता था।[14] सान्धिविग्रहिक से दौत्यकला में प्रवीण तथा लोक व्यवहार में कुशल होने की अपेक्षा की जाती थी। 'यशस्तिलकचम्पू' में सान्धिविग्रहिक के गुणों का वर्णन है। वह अध्ययनशील, कुशल लेखक, भाषाविद् और विभिन्न लिपियों का ज्ञाता हो, विषमतम परिस्थितियों में भी विचलित न होता हो तथा सभी प्रकार की राजनीतिक गुत्थियों को सुलझाने में सक्षम हो।[15]

महिपाल के राज्यकाल में हडाला दानपत्र सान्धिविग्रहिक महिन्दक ने तैयार किया था। सान्धिविग्रहिकों को विशेष प्रयोजन से विदेशी शासकों, अधीनस्थ शासकों और सामन्तों के पास भी भेजा जाता था।[16]

व्यवहारी : भोजदेव के वराह ताम्रपत्र में व्यवहारी नामक पदाधिकारी का उल्लेख हुआ है। इसके अनुसार व्यवहारिन की असावधानी के कारण कालंजर मण्डल के दान क्षेत्र की कुछ दिनों के लिए दी गयी सुविधाओं के अवरुद्ध हो जाने की चर्चा है। सम्भवतः वह न्याय विभाग का पदाधिकारी था और सभी विषयों के कानूनी दृष्टिकोण का विश्लेषण किया करता था। दौलतपुरा दानपत्र को पुनरूवर्तित के पूर्व उसकी व्यवहारी द्वारा जांच किये जाने का उल्लेख है।[17] इस प्रकार व्यवहारी को भूमि सम्बन्धी मामलों में न्यायिक व्यवस्था देने वाला अधिकारी माना जा सकता है।

राजस्व व्यवस्था : राज्य की आय के तीन प्रमुख परम्परागत साधन थे- भाग (उपज में राजा का भाग), शुल्क (चुंगी) एवं दण्ड से प्राप्त धन। राज्य में कृषक, व्यापारी तथा शिल्पकार प्रमुख कर दाता होते थे। इनकी रक्षा का दायित्व राजा पर था, अतः राजा को उससे कर, भाग और शुल्क लेने तथा उन पर दण्ड लगाने का अधिकार था।[18] राजा जब उपज का हिस्सा मुद्रा के रूप में लेता था तो वह कर 'हिरण्यक' कहलाता था। द्वितीय ध्रुव के शक संवत् 757 के बड़ौदा दानपत्र में हिरण्य और धान्य विपरीतार्थक शब्दों के रूप में प्रयुक्त है।[19] इससे स्पष्ट होता है कि 'हिण्य' नामक कर मुद्रा के रूप में लिया जाता था। राजस्थान के ताम्रपत्रों में 'हिरण्य' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में लिया गया है।[20]

राजस्थान के दानपत्रों में भोग नामक भूमि कर का भी उल्लेख है। ग्रामवासी फल, सब्जी, पुष्प, दूध, दही, लकड़ी इत्यादि राजा को उसके सैद्धान्तिक भू-स्वामित्व के बदले दिया करते थे। इसे भोग कहा जाता था। अल्तेकर ने भोग की उपरिकर की संज्ञा दी है परन्तु इसके लिए कोई प्रमाण नहीं दिये। कर्णदेव का वि.सं. 996 के नौसारी ताम्रपत्र में उपरिकर और भोग शब्दों का एक साथ प्रयोग होना इस मत के विरुद्ध है। मथनदेव के एक दानपत्र में भोग और भाग का एक साथ उल्लेख है।[21]

दान और शुल्क आयात और निर्यात पर लिये जाने वाले चुंगी कर थे। ऐसे करों को 'मण्डपिका' अर्थात् चुंगी चौकी पर चुकाना होता था। एक राज्य में ऐसी अनेक मण्डपिकाएं होती थीं मण्डपिका पर वसूल किये जाने वाले 'शुल्क' से धार्मिक स्थानों की व्यवस्था के लिए कुछ धन राशि दिये जाने के उदाहरण भी मिलते हैं। प्रतापसिंह के नाडोल से प्राप्त वि.सं. 1213 के ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि तीन जैन मंदिरों के निर्वाह हेतु बादरी नगर की मण्डपिका से प्रतिदिन एक रूपक का दान दिया जाता था।[22]

दण्ड के अन्तर्गत वे कर परिगणित किये जाते थे जो अपराधियों से दण्ड स्वरूप लिये जाते थे या जिन्हें पराजित शत्रु को देने के लिए बाध्य किया जाता था। इसमें मुद्रा, द्रव्य, वस्तु, पशु इत्यादि सम्मिलित होते थे। स्मृतिकारों ने दस अपराधों का उल्लेख किया है। इस अपराधों के लिए अर्थदण्ड की व्यवस्था थी। यदि कोई व्यक्तिगत रूप में आवेदन न करे तब भी राजा ऐसे मामलों मे अपनी ओर से अनुसंधान कर सकता था।[23] आलोच्यकाल के दानपत्रों एवं शिलालेखों में 'दशापराध' सम्बन्धी अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं।[24]

राजस्व सम्बन्धी अनेक शब्दों का उल्लेख तत्कालीन स्त्रोतों में मिलता है। तत्कालीन स्त्रोतों में 'निधान' का प्रयोग हुआ है।। यू.एन. घोषाल ने इसे

कृषि भूमि का एक प्रकार का कर माना है। वि.सं. 1223 के केल्हणदेव के बामनेरा ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि इसका सम्बन्ध निखात निधि से था।[25] लेखपद्धति में नवनिधान[26] शब्द का उल्लेख मिलता है। परम्परा से भूगर्भ में नवप्रकार की निधि मानी जाती थी जिस पर राजा का अधिकार समझा जाता था। 'अभ्यान्तरसिद्धि'[27] शब्द द्वितीय मर्तृवडढ़ के हांसोट ताम्रपत्र में मिलता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि खनिज रूप में उपलब्ध भूगर्भ निधि राजकीय सम्पत्ति है तथा उन पर कर लगाना राजा का अधिकार है। दानपत्रों में इस अधिकार को भी भोक्ता को दिये जाने का उल्लेख है।

सैन्य प्रशासन : छठी से बारहवीं शती का समय राजस्थान में निरन्तर होने वाले युद्धों का काल था। ऐसी स्थिति में सैन्य विभाग का महतवपूर्ण होना स्वाभाविक था। परम्परानुसार राज्य की आय का 50 प्रतिशत अंश तक सैन्य व्यवस्था पर व्यय किया जाता था।[28] सैनिक प्रशासन का संचालन बलाधिकारण द्वारा होता था। यह राजधानी या केन्द्र में स्थित होता था और सेनापति तथा अन्य पदाधिकारियों के नेतृत्व में कार्य करता था। सेना का सर्वोच्च पदाधिकारी स्वयं राजा होता था। स्मृतिकारों ने छः प्रकार की सेनाओं यथा मौल (वंश परम्परागत), भृत, भृतक या भृत्य (वेतनभोगी सैनिकों का दल), श्रेणी, मित्र, अमित्र (ऐसी सेना जो पहले शत्रु पक्ष की थी) और आटवी या आटविक (वन्य जातियों की सेना)।[29] द्वितीय धटसेन के मलिया ताम्रपत्र में उल्लेख है कि वलभी राज्य के संस्थापक भटार्क ने मौल, भृत, मित्र एवं श्रेणी बल की सहायता से राज्य प्राप्त किया था।[30]

बलाधिकृत एक मुख्य सैनिक होता था। 'हर्षचरित' में इसको सेनापति से भिन्न बताया गया है।[31] द्वितीय कक्क के आन्तरोली-छारोली ताम्रपत्र में पदक्रमानुसार वलाधिकृत को सेनापति से नीचे और चौरद्धरणिक के ऊपर निर्दिष्ट किया गया है।[32] 'उपमितिवप्रपन्वकथा' में बलाधिकृत को नगर शासन का अधिकारी माना है। शासन कार्य में उसकी सहायता के लिये एक महतम की नियुक्ति की जाती थी।[33]

तन्त्रपाल : प्रतिहार शासन काल में तत्कालीन दानपत्रों से तन्त्रपाल नामक पदाधिकारी के विषय में सूचना प्राप्त होती है। द्वितीय विग्रहराज के शासनकाल में तन्त्रपाल का होना प्रमाणित है। तन्त्रपाल दहीक की नियुक्ति प्रथम महेन्द्रपाल ने की थी।[34] उसने नक्षिस्वपुर के बलवर्मा और उसके पुत्र द्वितीय अवन्तिवर्मा के दानपत्रों पर हस्ताक्षर किये थे।[35] महेन्द्रपाल के समय के ऊना से प्राप्त दानपत्रों से ज्ञात होता है। कि जब उसके सामन्त अवनिवर्मन

द्वितीय ने अपने क्षेत्र में भूमिदान का संकल्प किया था तब उसका स्वामित्व... राजा के तंत्रपाल धोइक के माध्यम से पहले ही ले रखी थी। (आगम प्रसाद, राजस्थान की प्राचीन राजनीतिक संस्थाएं, 1985, दिल्ली, पृ. 162) तन्त्रपाल माधव ने उज्जयिनी के मन्दिर में दिए गए दानपत्र पर हस्ताक्षर किये थे। 'उपमितिभवप्रपंचकथा' में तन्त्रपाल को साहसी, कूटनीतिज्ञ, राजनीति में प्रवीण और सामरिक गुणों में सम्पन्न बताया गया है। स्पष्ट है कि प्रतिहार शासनान्तर्गत तन्त्रपाल विशिष्ट पदाधिकारी था। शाकम्भरी के चाहमान सामन्त शासक प्रथम वाकपतिराज ने केन्द्र के आदेशों की अवहेलना की थी जिससे रूष्ट होकर तन्त्रपाल ने क्षमापाल ने उसके विरूद्ध सैनिक कार्यवाही की थी।[36]

प्रादेशिक प्रशासन : आलोच्यकाल के नरेश सिद्धान्ततः अपने अपने साम्राज्यों के सर्वेसर्वा माने जाते थे। परन्तु ये साम्राज्य सामन्तवादी व्यवस्था पर आधृत थे। चाहमान शासकों में भी राजस्थान का बहुत बड़ा भूखण्ड सामन्तों द्वारा शासित था। 'तारीख-ए-फरिश्ता' से ज्ञात होता है कि तृतीय पृथ्वीराज के 150 सामन्त थे। इसी प्रकार बागड़, जालौर और किराडू के शासक मालवा के परमारों के सामन्त थे।[37] चालुक्य शासनान्तर्गत नाडोल, जालौर, आबू इत्यादि सामन्ती क्षेत्र थे। आलोच्यकाल में सामन्ती व्यवस्था अपना विशिष्ट स्थान रखता है।[38]

प्रतिहारों का साम्राज्य मुक्ति, मण्डल, विषय, पृथक, चतुरशीतिका, द्वादशक इत्यादि इकाइयों में विभाजित था। साम्राज्य की सबसे बड़ी इकाई भुक्ति होती थी। प्रतिहारकालीन स्त्रोतों में कान्यकुब्ज, श्रावस्ती इत्यादि भुक्तियों का उल्लेख हुआ है।[39] हमें कुमार (प्रथम) के समय के दामोदरपुर से प्राप्त ताम्रपत्रों में वर्णित पोण्ड्वर्धन भुक्ति के प्रशासन सम्बन्धी उल्लेखों से इस विषय में पर्याप्त सूचना मिलती है। (ई.आई., 18, पृ. 130) प्रत्येक भुक्ति अनेक मण्डलों में विभाजित थी। 'मण्डल' के शासक 'माण्डलिक' या मण्डलेश्वर कहलाते थे। भोजदेव के बाड़ा और प्रथम महेन्द्रपाल के दिगहवा दुबौलि ताम्रपत्रों से ज्ञात होता है कि 'मण्डल' से छोटी इकाई विषय थी।[40] संस्कृत कोषों में विषय शब्द की व्याख्या को स्पष्ट करने के उद्देश्य से देश, उपवर्तन, जनपद और राष्ट्र आदि पर्याय बताये गये हैं। वराहमिहिर ने अपनी वृहत्संहिता में लाट-सिंधु विषय का उल्लेख किया है। (वृहत्संहिता, 69,11) कालान्तर में हेमचन्द्र ने प्रशासनिक महत्व के इस तकनीकी शब्द पर विचार किया गया है। (हेमचन्द्रभिधान, 847) विषय बहुल सम्भवतः वर्तमान सन्दर्भों के परिप्रेक्ष्य में तहसील अथवा तालुक के समकक्ष की प्रशासनिक इकाई की संज्ञा थी जो अपने किसी मण्डल का भाग होती थी और जिसमें अनेकों ग्राम भी स्थित होते थे।

वि.सं. 1176 के सेवाड़ी ताम्रपत्र में सप्तशत विषयों का उल्लेख हुआ है।[41] विषय का सर्वोच्च अधिकारी 'विषयपति' या 'विषयी' कहलाता था।[42]

मारवाड़ में 84 गांवों का क्षेत्र 'चौरसिया' कहा जाता था।[43] वि.सं. 1218 के नाडोल ताम्रपत्र में 12 गांवों का उल्लेख हुआ है।[44]

पंचकुल, मण्डपिका इत्यादि की कार्य संचालन पद्धति से तत्कालीन प्रशासन में प्रजातांत्रिक व्यवस्था का आभास मिलता है। 'कुवलयमाला' में ग्राम महत्तरों और ज्येष्ठ महत्तरों का उल्लेख हुआ है। मायादित्य की कथा इसका प्रमाण मानी जा सकती है कि उक्त अधिकारियों का कार्य क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था और वे जीवन की विविध समस्याओं के समाधान के लिए सलाह देते थे।[45] इस कथा में मायादित्य नामक एक कपटी वणिक, जिसने अपने मित्रों के साथ अनेक बार विश्वासघात किया था, अग्नि में जलकर प्रायश्चित करने के लिये उत्सुक था। उसने ग्राम महत्तरों से सलाह ली। ज्येष्ठ महत्तर ने उसे गंगा की धारा में शरीर त्यागने की सलाह दी। अन्य महत्तरों ने भी इसका अनुमोदन किया। इसका अर्थ यह हुआ कि ग्रामों में महत्तर और ज्येष्ठ महत्तर होते थे। उनकी सलाह स्वीकार की जाती थी।[46] वि.सं. 1244 के वीरपुर दानपत्र में भी कहा गया है कि वह दानपत्र महत्तम केल्हण और पंचकुल की अनुमति से लिखा गया था।[47]

उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल में प्रशासकीय व्यवस्था संक्रांति अवस्था में थी। गुप्तकालीन प्रशासन का जहां आधारभूत ढांचा था, वही समकालीन परिवर्तन भी स्वीकृत थे। सामन्तों की केन्द्रीय शक्ति के सुदृढीकरण में भूमिका, नौकरशाही आदि की कार्य-प्रणाली एवं विकास आदि तत्व ताम्रपत्रों मे सूचनाबद्ध है। राजनैतिक अस्थिरता केन्द्र-सामन्त सम्बन्धों में दृष्टिगोचर होती है। सामन्ती ताम्रपत्रों में केन्द्रीय शक्ति के प्रति दी गई दैवीय उपाधियों सामंत वर्ग की केन्द्रीय शक्ति पर निर्भरता एवं आतुरता को स्पष्ट करती है, वही जन-व्यवस्थाओं में जन-समितियों की भूमिका भी पंचकुलिना का रूप में स्पष्ट होती है। निःसंदेह ताम्रपत्रों का अध्ययन हमें नवीन शोध सामग्री प्रदान करने में सहायक है।

सन्दर्भ

1. अर्थशास्त्र 6,11; काणे, पी.वी, धर्मशास्त्र का इतिहास, 1,2, पृ. 585
2. अर्थशास्त्र 8, 2
3. ओझा, निबंध संग्रह, 2, पृ. 197
4. व्यास, श्यामप्रसाद, राजस्थान के अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन, जोधपुर, 1986, पृ. 11
5. वही, पृ. 12
6. याज्ञवल्क्यस्मृति 1, 309-311
7. मनुस्मृति, 7/32
8. इ.आई. 9, पृ. 66-70
9. कुवलयमालाकहा, पृ. 32
10. एस.जे. जी.एम., 18, पृ. 103, 106, 109, 110
11. श्रिकरण, व्ययकरण, मण्डपिका करण और कोस्तिक मुख्य विभाग थे। विस्तृत अध्ययन हेतु दे. लेख पद्धति (गायकवाड़ सिरीज)
12. शर्मा, दशरथ, अर्ली चौहान डायनेस्टी, पृ. 182-183
13. आई.ए., 41, पृ. 202-03
14. ई.आई. 34, पृ. 170-73
15. यशस्तिलकचम्पू, पृ. 740
16. शर्मा, दशरथ, राजस्थान थ्रू द एजिज, बीकानेर, पृ. 318, पाद टिप्पणी 2
17. भावनगर इंस्क्रिपशन, पृ. 67
18. व्यास, श्याम प्रसाद, पूर्वोक्त, पृ. 31-32
19. एच.आई.जी. 2, सं. 127
20. शर्मा, दशरथ, पूर्वोक्त, पृ. 325 पर उद्धृत
21. श्यामलदास, वीर विनोद, 4 पृ. 1531-32
22. आई.ए., 41 पृ. 202
23. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ. 716-717
24. इ.आई., 3, पृ. 263
25. वही, 13, पृ. 210
26. लेखपद्धति, पृ. 6
27. इ. आई., 12 पृ. 202
28. शुक्रनीति, 1, 316-17
29. दे. कौटिल्य (922), कामन्दक (18/4), अग्नि (24/1-2), मानसोल्लास (216, श्लोक 556, पृ. 76)
30. आई. ए., 13 पृ. 160
31. हर्षचरित, पृ. 124 ओर 204; तिलकमंजरी, पृ. 97

32. एच.आई.जी., 2, नृ. 120
33. उपमितिभवप्रपंचकथा, पृ. 243
34. इ.आई. 2 पृ. 119, 14 पृ. 176-183
35. एच.आई.जी., 1, सं. 234-35
36. इ.आई., 2 पृ. 119
37. शर्मा, दशरथ, अ.चौ.डा., पृ. 94 पर उद्धृत
38. व्यास, श्यामप्रसाद, पूर्वोक्त, पृ. 52
39. इ.आसई. 19, पृ. 17
40. जे.बी.बी.आर.ए.एस., 21, पृ. 410
41. नाहर, पू.च., जै.ले.सं., 1, पृ. 198
42. इ.आई., 9, पृ. 308
43. बी.आई., पृ. 205-07
44. इ.आई., 9, पृ. 66-70
45. कुवलयमाला, पृ. 63
46. वही
47. ओझा निबंध संग्रह, 2, पृ. 197